दैनिक जागरण
नकारात्मक विचार हमें पतन की ओर धकेलते हैं

नदी संरक्षण योजना

राष्ट्रीय नदी संरक्षण योजना के तहत 16 राज्यों की 34 नदियों की सफाई के लिए करीब 5800 करोड़ रुपये की राशि स्वीकृत किया जाना यह बताता है कि केंद्र सरकार गंगा नदी को साफ-सुथरा करने के साथ ही देश की अन्य नदियों को भी स्वच्छ करना चाह रही है। केंद्र सरकार ने इस राशि में से अपने हिस्से के लगभग 2500 करोड़ रुपये विभिन्न राज्यों को जारी कर दिए हैं, लेकिन यह कहना कठिन है कि इसके बाद नदियों की साफ-सफाई का काम गति पकड़ लेगा। यह संदेह इसलिए है, क्योंकि नदियों को संरक्षित-साफ करने के विभिन्न अभियानों का अभी तक का अनुभव कोई बहुत अच्छा नहीं रहा है। इसका कारण यह है कि उन विभागों को जवाबदेह नहीं बनाया जा सका है जिन पर नदियों की देख-भाल की जिम्मेदारी है। इसके अलावा एक कारण यह भी है कि अपने देश में उस संस्कृति का अभाव दिखता है जो नदियों को साफ-सुथरा रखने में सहायक बन सके। निःसंदेह प्राचीन काल में ऐसी संस्कृति थी और इसी कारण नदियां अभी हाल तक स्वच्छ बनी रहीं, लेकिन बीते कुछ दशकों में नदियों की दुर्दशा ही अधिक हुई है। इस दुर्दशा के लिए औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के साथ सरकारी तंत्र की सुस्ती भी जिम्मेदार है। ग्रामीण और शहरी इलाकों में जिस सरकारी तंत्र को यह देखना चाहिए था कि नदियां अतिक्रमण और प्रदूषण से बची रहें उसने अपना काम सही तरह से नहीं किया। स्थिति इसलिए और अधिक बिगड़ी, क्योंकि केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के साथ-साथ राज्यों के ऐसे बोर्ड कागजी खानापूरी ही अधिक करते रहे।

केंद्र और राज्य सरकारें चाहे जो दावा करें, यह नहीं कहा जा सकता कि प्रदूषण की रोकथाम के लिए बनाई गईं विभिन्न एजेंसियां अपने हिस्से का काम ईमानदारी से कर रही हैं। इसका एक प्रमाण यह है कि नदियों के किनारे बसे शहरों में स्थापित सीवेज शोधन संयंत्र आधी-अधूरी क्षमता से ही काम कर रहे हैं। राष्ट्रीय नदी संरक्षण योजना ऐसा कोई उदाहरण पेश नहीं कर सकी है जो नदियों को संरक्षित करने के मामले में अनुकरणीय साबित हो सके। यह सही है कि गंगा नदी को साफ करने का अभियान कुछ उम्मीद दिखा रहा है, लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि इस अभियान की सफलता का इंतजार लंबा होता जा रहा है। पिछले दिनों यह कहा गया कि अब गंगा वर्ष 2020 के बाद बजाय 2022 में साफ होगी। बेहतर हो कि यह सुनिश्चित किया जाए कि इस समय सीमा को बढ़ाने की नौबत न आए। इसी के साथ राष्ट्रीय नदी संरक्षण योजना को कारगर बनाने के उपायों पर भी गौर करना होगा। यदि ऐसा नहीं किया गया तो नतीजा ढाक के तीन पात वाला ही हो सकता है। अतिक्रमण और प्रदूषण से ग्रस्त नदियों को बचाने के लिए जितना सचेत और सक्रिय होने की जरूरत केंद्र एवं राज्य सरकारों के साथ-साथ उनकी विभिन्न एजेंसियों को है उतना ही समाज को भी है। भारतीय समाज को यह बुनियादी बात समझने में और देर नहीं करनी चाहिए कि नदियों और साथ ही अन्य जल स्रोतों को संरक्षित एवं स्वच्छ रखना एक ऐसा साझा दायित्व है जिसका निर्वहन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

कैसे रुके मानव तस्करी

झारखंड में मानव तस्करी के अंतरराष्ट्रीय नेटवर्क से जुड़ा कुख्यात पन्नालाल पुलिस की गिरफ्त में है। पिछले ढाई दशकों में झारखंड और ओडिशा के हजारों लड़के-लड़कियों, महिलाओं और युवकों को ऊंचे सब्जबाग दिखाकर बाहरी राज्यों में काम दिलाने के नाम पर बंधुआ मजदूरी, वेश्यावृत्ति, बाल श्रम व भिक्षावृत्ति के दलदल में धकेल दिया। मानव तस्करी की अवैध कमाई से उसने अकूत संपत्ति जमा की है। हाल के वर्षों में अलग-अलग स्थानों से मानव तस्करी के शिकार लोगों खासकर किशोरियों को बड़ी संख्या में छुड़ाया गया है, लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि यहां सक्रिय पन्नालाल जैसों की गिरफ्त में आकर इनमें से कई दोबारा मानव तस्करों का शिकार बन गए और उनका दोहन दोबारा शुरू हो गया। राज्य में मानव तस्करी के मामले में गुमला पहले स्थान पर है। सिमडेगा दूसरे स्थान पर। इन जिलों के अलावा लोहरदगा, खूंटी, सरायकेला, जामताड़ा, पाकुड़, साहिबगंज जैसे जिलों में भी मानव तस्करी जमकर हो रही है। दरअसल मानव तस्करी आदिवासी बहुल आबादी वाले क्षेत्रों में अधिक हो रही है। सरकार को मानव तस्करी रोकने के लिए गंभीर प्रयास करने होंगे। राज्य में शिक्षा व रोजगार के साधन बढ़ाने से लेकर लोगों को निरंतर जागरूक करते रहने तक का उपक्रम करना होगा। साथ ही मानव तस्करों को ढूंढ कर उन्हें कड़ी सजा दिलानी होगी। मानव तस्करी का शिकार होने के बाद मुक्त कराए गए लोगों को सरकार द्वारा घोषित पुनर्वास योजनाओं का लाभ भी दिलाना सुनिश्चित करना होगा। मुक्त कराए गए प्रत्येक व्यक्ति को गृह कारा एवं आपदा प्रबंधन विभाग से पुनर्वास के लिए 20 हजार रुपये मिलने के प्रावधान है। दुर्भाग्य से अब तक मुक्त कराए गए किसी को भी इसका लाभ नहीं मिला है। साथ ही सरकार ने घोषणा कर रखी है कि जिन लोगों को मानव तस्करों के चंगुल से मुक्त कराया जाएगा उन्हें कौशल विकास से जोड़कर उनका नियोजन कराया जाएगा। यह काम भी अबतक नहीं हो सका। मानव तस्कर गरीब आदिवासी परिवारों को प्रलोभन देते हैं और उनके बेटे-बेटियों का सौदा कर देते हैं।

संवाद की परंपरा का क्षरण

हृदयनारायण दीक्षित

भारत का संपूर्ण इतिहास वाद-विवाद संवाद से भरा है, लेकिन आज भारत में राष्ट्रीय चुनौतियों एवं व्यापक लोकहित के प्रश्नों पर भी उद्देश्यपरक संवाद का अभाव है

समाज का जन्म संवाद से हुआ है। दुनिया के सभी समाजों का गठन और पुनर्गठन सतत् संवाद से ही संभव हुआ है। सभ्यता, संस्कृति और दर्शन के विकास में भी संवाद की मुख्य भूमिका है। प्राचीनतम सामाजिक संगठन का संवाद साक्ष्य ऋग्वेद है। ऋग्वेद के अंतिम सूक्त (10.191) कहते हैं, 'परस्पर साथ-साथ चलें। परस्पर स्नेहपूर्ण संवाद करें। सबके मन साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करें।' संवाद अनिष्ट दूर करने का मंत्र है। संवाद का कोई विकल्प नहीं। संवाद का घनत्व अपनत्व है। संवादहीनता में तनाव हैं, युद्ध भी हैं। महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को गण संघर्ष का कारण संवादहीनता बताया था। संवाद के परिणाम हमेशा सुखद होते हैं, लेकिन इसके पहले वाद-विवाद भी होते हैं। भारत संवादप्रिय भूमि है। पुराकथाओं में पशु-पक्षी भी संवादरत हैं। वेद, उपनिषद्, गीता सहित भारत का संपूर्ण ज्ञान दर्शन संवाद में ही उगा है, लेकिन पीछे लगभग दो-तीन दशक से संवाद घटा है। वाद-विवाद कलहपूर्ण हो गए हैं। मूलभूत राष्ट्रीय प्रश्नों पर भी प्रीतिपूर्ण वाद-विवाद संवाद नहीं है। राष्ट्रीय एकता जैसे अपरिहार्य प्रश्नों पर भी समन्वय एवं सामंजस्य नहीं हैं। सबके अपने सत्य हैं। वे दूसरों के सत्य का सामना नहीं करते। महाकवि निराला के शब्दों में 'बोलते हैं लोग ज्यों मुंह फेरकर।'

अपना पक्ष सबको सही प्रतीत होता है, लेकिन लोकमंगलकारी सत्य एकपक्षीय नहीं होता। प्रत्येक वाद का प्रतिवाद भी होता है। दोनों की प्रीति का परिणाम संवाद में खिलता है। हिंदी के प्रख्यात आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने 'वाद-विवाद संवाद' की भूमिका में पास्कल को उद्धृत किया है, 'एक छोर पर जाकर ही कोई अपनी महानता नहीं प्रकट करता। महानता प्रकट करता है दोनों छोरों को एक साथ छूते हुए बीच की समूची जगह को स्वयं भरकर।' लेकिन वर्तमान परिदृश्य में अपने-अपने दुराग्रह हैं। जनसंख्या वृद्धि भारत की राष्ट्रीय समस्या है। जनसंख्या विस्फोट से जनस्वास्थ्य, परिवहन, न्याय, शिक्षा, रोजगार, अपराध नियंत्रण सहित सभी क्षेत्रों के बुनियादी ढांचे चरमरा गए हैं। बावजूद इसके जनसंख्या नियंत्रण की प्रभावी विधि या नियमन पर आम सहमति नहीं है। राष्ट्रीय महत्व के इस मुद्दे पर संवाद की बात छोड़िए सार्थक वाद-विवाद भी नहीं है। तीन तलाक लाखों महिलाओं के कल्याण और सुरक्षित जीवन से जुड़ा मुद्दा है। इस महत्वपूर्ण विषय पर भी एकपक्षीय दुराग्रह हैं। वे दूसरे पक्ष के विचार को शांत चित्त से सुनना भी पसंद नहीं करते। सामाजिक सुधार की इस चुनौती का हल संवाद में है, लेकिन यहां घोर संवादहीनता है।

अल्पसंख्यक विशेषाधिकार संविधान सभा में बहस का विषय था। सरदार पटेल की अध्यक्षता वाली 'अल्पसंख्यक अधिकार समिति' की रिपोर्ट पर बहस हुई। पीसी देशमुख ने कहा, 'इतिहास में अल्पसंख्यक से अधिक कटुतापूर्ण कोई शब्द नहीं है। इसके कारण देश बंट गया।' आरके सिधवा ने कहा कि अल्पसंख्यक जैसा रूढ़ शब्द प्रयोग इतिहास से मिट जाना चाहिए। तजम्मुल हुसैन ने कहा, 'हम अल्पसंख्यक नहीं हैं। यह शब्द अंग्रेजों ने निकाला। वे चले गए। अब इस शब्द को डिक्शनरी से निकाल देना चाहिए।' लेकिन राजनीति में अल्पसंख्यकवाद चला। यही मसला संप्रति सर्वोच्च न्यायालय में है। याचिकाकर्ता अश्विनी उपाध्याय ने राज्यों की आबादी के अनुसार अल्पसंख्यक घोषित करने की मांग की है। याचिका में 2011 की जनगणना के अनुसार लक्षद्वीप (2.5 फीसद), मिजोरम (2.75 फीसद), नगालैंड (8.75 फीसद), मेघालय (11.53 फीसद), जम्मू-कश्मीर (28.44 फीसद), अरुणाचल प्रदेश (29 फीसद), मणिपुर (31.39 फीसद), और पंजाब (38.40 फीसद) में हिंदू अल्पसंख्यक हैं। मिजोरम, मेघालय और नगालैंड में ईसाई बहुसंख्यक होकर भी अल्पसंख्यक हैं। पंजाब में बहुसंख्यक सिख को अल्पसंख्यक माना जाता है। संविधान में भी अल्पसंख्यक की परिभाषा नहीं है। मुद्दा राष्ट्रीय बेचैनी का है तो भी प्रीतिपूर्ण संवाद नहीं।

अवधेश राजपूत

जम्मू-कश्मीर की समस्या भारतीय राष्ट्र राज्य की बड़ी चुनौती है। अन्य रियासतों की ही तरह एक समान प्रारूप पत्र में इस राज्य का विलय भारत में हुआ था। संविधान (अनुच्छेद 370) में 'जम्मू-कश्मीर राज्य के संबंध में अस्थायी उपबंध' शीर्षक है। शीर्षक में ही अस्थायी उपबंध के बावजूद यह अनुच्छेद 70 वर्ष से स्थायी है। संविधान निर्माताओं ने ही इसे अस्थाई उपबंध कहा था, लेकिन वोट राजनीति के कारण तथ्यपरक संवाद नहीं हुआ। सुरक्षा बलों के शौर्य पर भी प्रश्न उठाए गए। भारत दुनिया का अकेला देश है जहां राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न पर भी संवादपूर्ण एकजुटता नहीं है। असम से अवैध विदेशी नागरिकों को निकालने की समस्या बड़ी है। कुछ समय पहले सर्वोच्च न्यायालय ने भी विदेशी घुसपैठ को आक्रमण बताया था। सरकार प्रतिबद्ध है, लेकिन दूसरा पक्ष अपने आग्रह पर है। आखिरकार राष्ट्र की अस्मिता, एकता और अखंडता के प्रश्नों पर भी संवादहीनता क्यों है? ऐसे दुराग्रहों के कारण क्या हैं? क्या राजनीति राष्ट्र से बड़ी है? यदि एक पक्ष यही मानता है तो राजनीति की सर्वोपरिता के मुद्दे पर भी वाद-विवाद संवाद क्यों नहीं?

भाषा संवाद का माध्यम है। राजभाषा हिंदी राष्ट्रीय संवाद का सर्वोपरि माध्यम है। तमिलनाडु में राष्ट्रीय राजमार्गों पर राजभाषा एवं क्षेत्रीय भाषाओं के नाम पट्ट लगाए गए थे, लेकिन राजभाषा के विरोध में बवाल हो गया। कुछ दिन पहले केंद्र सरकार के कार्यालयों के हिंदी नाम पट्ट पोते गए। आखिरकार विदेशी अंग्रेजी से मोह और राजभाषा के प्रचंड विरोध पर संवाद क्यों नहीं हो सकता? सभी भारतीय भाषाएं इसी भारत भूमि का प्रसाद हैं। राजभाषा हिंदी से तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि की कोई शत्रुता नहीं है। सभी भाषाओं के संवर्द्धन एवं विकास के साथ हिंदी को राजभाषा स्वीकार करने का प्रश्न भारतीय संस्कृति से जुड़ा हुआ है। भाषा संस्कृति की मुख्य संवाहक है। संवाद भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के पुनर्बोध का एकमेव उपकरण है। भारत का संपूर्ण इतिहास सभा, समिति, गोष्ठी, शास्त्रार्थ, प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद संवाद से भरा पूरा है, लेकिन आधुनिक भारत में राष्ट्रीय चुनौतियों एवं व्यापक लोकहित के प्रश्नों पर भी उद्देश्यपरक संवाद का अभाव है। राष्ट्रीय एकता के प्रश्न भी उपेक्षित हैं।

संविधान निर्माताओं ने वाद-विवाद संवाद की तमाम संस्थाएं बनाई हैं। यहां द्विसदनीय संसद है। दोनों सदनों में पीछे काफी समय से गतिरोध रहा है। सुखद है कि इस लोकसभा में उत्पादक काम बढ़ा है, लेकिन राज्य विधानमंडलों की स्थिति चिंताजनक है। संवाद से चलने वाले अनेक बहुसदस्यीय आयोग हैं। मंत्रिपरिषदें हैं। न्यायालय वाद-प्रतिवाद और संवाद के केंद्र हैं। पंचायत एवं ग्राम सभाएं हैं। संविधान निर्माता संवाद के फायदों से सुपरिचित थे। उनके सामने तमाम देशों के संविधान एवं संवाद की जनप्रतिनिधि संस्थाओं के प्रारूप थे। ऋग्वैदिक काल की सभा एवं समिति के उद्धरण थे। प्राचीन ज्ञान का विकास वाद-विवाद संवाद से हुआ था। स्वयं से असहमत होकर सर्वमान्य को स्वीकार करने का साहस संवाद है। ऐसा संवाद द्वंद्ववाद नहीं भारत का अद्वैतवाद है। संवाद में संपूर्ण मानवता का लोकमंगल है।

(लेखक उत्तर प्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष हैं)

response@jagran.com

नई शिक्षा नीति को लागू करने की चुनौती

जगमोहन सिंह राजपूत

नीतियां बनाने में हम बेजोड़ हैं, मगर उनके क्रियान्वयन के लिए जो इच्छाशक्ति और ऊर्जा चाहिए वह नदारद है

तीस वर्ष पहले मैं मानव संसाधन मंत्रालय में पांच वर्ष के लिए प्रति-नियुक्ति पर गया था। सात-आठ दिन बाद ही पेट्रोल की बचत करने की आवश्यकता पर एक परिपत्र मेरे पास भी आया। मैंने उसे बड़े ध्यान से पढ़ा। शाम को घर लौटते समय सरकारी कार के नियमित ड्राइवर से चर्चा करते हुए मैंने कहा कि अब तो गाड़ी का उपयोग काफी सीमित हो जाएगा। वह जानते थे कि मैं 'बाहर' से आया हूं। यानी आइएएस अफसर नहीं हूं और मंत्रालय की कार्यप्रणाली से अपरिचित हूं। मेरी बात ध्यान से सुनने के बाद उन्होंने मुझे समझाया, 'आप नए हैं, यहां ऐसे आदेश आते ही रहते हैं, सरकार तो अपने ढंग से चलती है। गाड़ियां आगे भी उसी तरह से चलेंगी जैसे आज तक चली हैं।' अगले पांच साल मैंने पाया कि वह सही थे। मैंने यह भी सीखा कि किसी भी नई योजना/परियोजना की जानकारी पर सामान्य जन में जो प्रतिक्रिया-आशा, अपेक्षा, संभावना या आशंका व्यक्त की जाती है, मंत्रालयों में उसे एक सामान्य प्रक्रिया का हिस्सा माना जाता है। सैकड़ों योजनाओं और कार्यक्रमों में एक और की वृद्धि, बस, इससे अधिक कुछ नहीं! मुझे तुरंत यह भी कहना चाहिए कि अपवाद अवश्य होते हैं, हुए हैं, हो रहे हैं और उसी से प्रगति और विकास की गाड़ी मंथर गति से चलती रहती है, रुकने नहीं पाती है। नवोदय विद्यालय, कस्तूरबा बालिका विद्यालय, सर्व शिक्षा अभियान, मध्यान्ह भोजन योजना, दूरस्त शिक्षा उपयोग तथा ऐसे अनेक नवाचार सराहनीय रहे हैं। असफलताएं भी अनेक हैं। जानकारों के किसी भी विचार-विमर्श में लगभग हर बार यह वाक्य उभरता है कि नीतियां बनाने में हम बेजोड़ हैं, मगर उनके क्रियान्वयन में व्यवस्था की जकड़नों से बाहर निकल पाने के लिए जो इच्छाशक्ति और ऊर्जा चाहिए, वह प्रायः अनुपस्थित ही रहती है।

व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि 1986 की शिक्षा नीति के आने के बाद अनेक ऐसी संस्तुतियां सामने आईं जिनसे शिक्षा का पूरा परिदृश्य चमक सकता था। इनमें ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड तथा अध्यापक शिक्षा संस्थाओं की नई संरचना भी शामिल थीं। केंद्र को धनराशि देनी थी जो दिलखोलकर दी गई, क्रियान्वयन राज्य सरकारों को करना था। वहां पूर्ण स्वायत्तता थी, उसका भरपूर उपयोग हुआ। प्राथमिक शालाओं में जो खरीदी हुई, उसे लेकर अधिकांश राज्यों में जांच-समितियां बनाने की नौबत आई। शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं के नाम बदले गए, भवन बने या विस्तारित हुए, सहायकों के स्तर पर केंद्रीय अनुदान से नियुक्तियां भी तेजी से हुईं, मगर अधिकांश राज्यों में शिक्षक प्रशिक्षकों के नियमित चयन, नियुक्तियां, प्रोन्नति, प्रशिक्षण

इत्यादि पर ध्यान न देकर योजना का मूल उद्देश्य भुला दिया गया। आज इन दोनों योजनाओं को लोग भूल चुके हैं। यह असामान्य नहीं है, मगर असामान्य यह भुला देना है कि ये और ऐसी ही अन्य योजनाएं असफल क्यों हो गईं! नई शिक्षा नीति को लेकर जो चर्चा हुई है और अभी भी हो रही है उसमें पहले की नीतियों के क्रियान्वयन के अनुभव से सहायत तभी मिल सकती है जब उनका निष्पक्ष अध्ययन, विश्लेषण और मूल्यांकन मंत्रालय के पास उपलब्ध हों। कस्तूरीरंगन समिति द्वारा प्रस्तुत प्रारूप को अंतिम स्वरूप देने की जिम्मेदारी तो मानव संसाधन मंत्रालय की ही है। और यह स्वरूप अपने में जितनी व्यावहारिकता लिए हुए होगा, वही नीति के क्रियान्वयन की सफलता के प्रतिशत को तय करेगा।

नई शिक्षा नीति के प्रारूप में प्रारंभ में ही इसके भारत केंद्रित होने की बात कही गई है। इस प्रारूप में ऐसा बहुत कुछ है जो भारत की ज्ञानार्जन परंपरा को आधार बनाकर भविष्य के लिए नई दृष्टि प्रस्तुत करता है। औपचारिक शिक्षा में व्यावसायिक शिक्षा का समावेश करने का सुझाव अपने आप में अकेला ही शिक्षा के जीवनोपयोगी होने में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है। यदि इसके सफल क्रियान्वयन की संकल्पना की जाए तो सबसे पहले शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रम संरचना और मूल्यांकन पद्धति में त्वरित मूलभूत परिवर्तन करने होंगे। इसमें राज्य सरकारों की रुचि, प्रशिक्षकों का दृष्टिकोण परिवर्तन तथा संसाधन तीनों का समन्वय प्राप्त करने की कठिन चुनौती सामने आएगी। शिक्षक प्रशिक्षण के लिए चार-वर्षीय पाठ्यक्रम की संस्तुति सराहनीय है, मगर जहां 92 प्रतिशत संस्थान निजी हों, सरकारी संस्थान निराशाजनक स्थिति में हों, वहां पूर्ण उत्साह के साथ नए पाठ्यक्रम को लागू करने के लिए विशेष प्रयास करने होंगे। यदि शिक्षक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम भारत केंद्रित हो जाएं तो इसका सीधा प्रभाव स्कूल शिक्षा पर पड़ेगा, तभी एक जीवंत और गतिशील शिक्षा व्यवस्था स्कूलों में प्रस्फुटित हो सकेगी। शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में पचास-साठ के दशक में गांधी जी की मौलिक शिक्षा की संकल्पना को साकार करने के सराहनीय प्रयास किए गए थे, लेकिन वे सभी धीरे-धीरे अनकहे ही नेपथ्य में धकेल दिए गए। अब फिर समय आया है कि शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों को सृजनात्मक गतिविधियों तथा नवाचारों का ऐसा केंद्र बना दिया जाए, जहां हर तरफ बौद्धिक और व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त किया जा रहा हो। जहां कृषि कार्य की समझ को उतना ही महत्वपूर्ण माना जाए जितना महत्व अंतरिक्ष विज्ञान को दिया जाता हो! क्योंकि शिक्षा ही घर-घर, गांव-गांव हर घर-परिवार में जीवंतता ला सकती है, संतुष्टि प्रदान कर सकती है, और 'हैप्पीनेस इंडेक्स' बढ़ा सकती है।

एक छोटा उदहारण लें। बस्ते का बोझ एक बड़ी समस्या कितने ही वर्षों से बनी हुई है। बच्चों के स्वास्थ्य और संवर्धन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। इसे अधिकारी, प्राचार्य और पालक सभी जानते हैं। ये सब मिलकर इसका समाधान निकाल सकते हैं, मगर शायद ऐसा करने की आवश्यकता ही नहीं समझते हैं। एक राज्य के एक वरिष्ठ अधिकारी ने संबंधित चर्चा में पूरे विश्वास के साथ कहा था कि भारी बस्ते से बच्चों की मांसपेशियां मजबूत होती हैं! लगभग तीन दशक पहले आरके नारायण का राज्यसभा में इस संबंध में दिया गया बयान और उसके बाद यशपाल समिति का प्रतिवेदन समय-समय पर चर्चा में आते रहते हैं, मगर बस्ते का बोझ बढ़ता ही जा रहा है। अभी एक नए शोध अध्ययन में कहा गया है कि बस्ते का बोझ बच्चों के अपने वजन के दस प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। इसमें नया कुछ नहीं है। यह केवल एक उदाहरण है कि सबकुछ जानते हुए भी क्रियान्वयन के स्तर पर जिस पैनी निगाह की आवश्यकता होती है, वह व्यवस्था में उपस्थित नहीं है। उसे जागृत करना आवश्यक है। नई शिक्षा नीति के सार्थक परिणाम तभी मिल सकेंगे।

(लेखक एनसीईआरटी के पूर्व निदेशक हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

पुस्तक और आत्मज्ञान

प्रसिद्ध अंग्रेजी दार्शनिक और राजनीतिज्ञ फ्रांसिस बेकन ने एक बार कहा था, 'कुछ किताबें स्वाद के लिए पढ़ने के लायक होती हैं, कुछ घोंटने के लायक होती हैं और कुछ चबाने तथा पचाने के लायक होती हैं।' आशय यह है कि पढ़ने के लिए पुस्तकों का चयन निहायत ही एक कठिन कार्य है। महज पढ़ने के लिए किसी भी पुस्तक का बिना विवेक और तर्क के आधार पर चुनाव करना एक घातक प्रवृत्ति है, क्योंकि सभी पुस्तकें पाठकों के अंतर्मन, भावों और सपनों को साकार करने के उद्देश्य से रचित नहीं होती हैं। किताबों की प्रकृति पर गौर करें तो सहज रूप से हम जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं वह यह है कि कोई पुस्तक उसके लेखक के ही जीवन के अनुभव, दर्शन और विचारों का प्रतिबिंब है, जिसकी सर्वग्राह्यता का मानक पैमाना अंतर्द्वंद्व और विरोधाभास से अछूता नहीं होता है।

फिर एक प्रश्न यह उठता है कि आखिर एक पाठक सर्वश्रेष्ठ, उपयोगी और जीवनोपयोगी पुस्तकों का चुनाव कैसे करे? आखिर कोई पाठक कौन-सी पुस्तक को पढ़ने के लिए उत्प्रेरित हो, जो उसके लिए मार्गदर्शक सरीखा कार्य कर पाए? कहा जाता है कि पुस्तकों के पढ़ने से प्राप्त ज्ञान हमें अंधेरे से, अज्ञानता से, कलुषता से, अमानवीय प्रवृत्तियों से और भय से मुक्त करता है। सूचना प्रौद्योगिकी के इस युग में इस लिहाज से उत्कृष्ट किताबों का चयन करना ही मानव के देवता बनने की प्रक्रिया में सबसे महती कार्य है। पुस्तकों को आत्मा का पोषक, मस्तिष्क का आहार और आत्मज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति का सोपान माना जाता है। अमेरिकी उपन्यासकार टोनी मोरिसन ने एक बार कहा था, 'यदि आप कोई ऐसी पुस्तक पढ़ना चाहते हैं, जो कि अब तक नहीं लिखी गई है तो इस प्रकार की पुस्तक का वास्तविक लेखक आप ही बन सकते हैं।' आशय यह है कि हर व्यक्ति के पास कहने के लिए एक कहानी होती है, जिसका संदेश औरों के जीवन की दिशा और दशा बदल सकती है। पूरी दुनिया में जीवन के झंझावातों से कठिन संघर्ष करके मंजिल तक तय किए गए सफर की गाथा ही सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। जो पुस्तक इन सभी उद्देश्यों को पूरा करने के साथ हमें कठिन परिस्थितियों में भी जीने के लिए जरूरी संबल प्रदान करती हो वही पुस्तक उत्कृष्ट है।

श्रीप्रकाश शर्मा

सेल्फी के उजाले का अंधेरा

मनोज कुमार

शोकाकुल माहौल में सेल्फी लेना पूर्ण रूप से असभ्यता का प्रतीक है और इसे रोकने की जरूरत है

आजकल हम अपने आसपास के माहौल में अक्सर देखते हैं कि युवा वर्ग में सेल्फी लेने का क्रेज दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। वे सेल्फी लेते समय जगह और माहौल का भी ध्यान नहीं रखते। सेल्फी लेने के जुनून में इतने खो जाते हैं कि उन्हें दूसरों की भावनाओं का भी ध्यान नहीं रहता। यह भी ध्यान नहीं देते कि कहीं हमारी सेल्फी की वजह से पास वालों को तो कोई समस्या नहीं हो रही है।

छात्र-छात्राओं में ही नहीं, बल्कि 35 से 45 वर्ष तक आयु वाले व्यक्ति भी सेल्फी लेते समय इन बातों का ध्यान नहीं रखते। हमें अक्सर देखने को मिलता है कि जब हम किसी रेस्टोरेंट, कॉफी शॉप, पिज्जा शॉप आदि में बैठकर खा पी रहे होते हैं तो लोग सेल्फी लेने लगते हैं, यह भी ध्यान नहीं देते कि उस सेल्फी के कारण कहीं हमारे आसपास बैठे अन्य व्यक्ति खुद को असहज तो महसूस नहीं कर रहे। इसी तरह का माहौल हमको अक्सर मॉल, पार्क आदि में दिखते हैं। जहां देखो वहां सेल्फी लेने की होड़ मची हुई है।

एक बार ऐसा ही कुछ जानेमाने अभिनेता अमिताभ बच्चन के साथ घटित हो चुका है। जिस पर उन्होंने कहा था कि जब मैं अपने एक मित्र के अंतिम संस्कार में पहुंचा तो वहां खड़े कुछ लोग सेल्फी लेने लगे। उन्होंने इस बात पर शख्त नाराजगी जताई थी। क्या ये लोग इतने असंवेदनशील हो गए हैं कि माहौल का भी ध्यान नहीं रखते कि हम कहां खड़े हैं?

ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण मुझे फेसबुक पर एक फोटो में देखने को मिला था। जब नई दिल्ली में जहां हमारे पूर्व राष्ट्रपति एवं महान वैज्ञानिक डॉ. एपीजी अब्दुल कलाम साहब का पार्थिव शरीर रखा गया था, वहां खड़े एक युवक ने उनके पार्थिव शरीर के साथ सेल्फी ली जिसमें पीछे से एक युवक हंसता हुआ उस सेल्फी में साफ-साफ दिखाई दे रहा था। अब आप बताएं यह कहां की संवेदनशीलता है? क्या ऐसे मौकों पर भी ये लोग बिना सेल्फी लिए नहीं रह सकते?

सेल्फी लेने की इस बीमारी से युवा वर्ग इस तरह ग्रस्त है कि आजकल के युवा खतरनाक लोकेशन पर भी सेल्फी लेने से परहेज नहीं करते। जिसके कारण कभी-कभी उन्हें अपनी जान भी गंवानी पड़ती है। ऐसा ही एक उदाहरण सुनने को मिला जिसमें एक 21 वर्षीय लड़का रेलवे ट्रैक के पास खड़ा था एवं वह रेलवे ट्रैक पर चल रही ट्रेन के साथ सेल्फी लेने की कोशिश कर रहा था। जैसे ही ट्रेन के गुजरने से हवा का प्रेशर लड़के के शरीर पर पड़ा वह तुरंत ट्रेन के नीचे आ गिरा और उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।

सेल्फी लेने के बढ़ते क्रेज के कारण मोबाइल फोन निर्मित करने वाली अनेक मोबाइल कंपनियां भी आधुनिक विशेषताओं के साथ अत्यधिक पावर वाले सेल्फी कैमरा युक्त मोबाइल बाजार में ला रही हैं एवं अत्यधिक कीमतों पर बेचकर गजब का मुनाफा कमा रहीं है। मानव व्यवहार पर सेल्फी लेने की आदत के पड़ने वाले प्रभाव के बारे में नई दिल्ली के बीएलके सुपर स्पेशलिटी अस्पताल के एक वरिष्ठ मनोचिकित्सक एस सुदर्शनन का कहना है कि शोकाकुल माहौल में सेल्फी लेना पूर्ण रूप से असभ्यता का प्रतीक है और इसे रोकने की जरूरत है।

(लेखक स्वतंत्र टिप्पणीकार हैं)

मेलबाक्स

नेहरू-गांधी परिवार से मुक्ति का औचित्य

परिवार की मुट्ठी में पार्टी शीर्षक से लिखे अपने लेख में प्रदीप सिंह ने यह बताना चाहा है कि कांग्रेस की भलाई इसी में है कि वह नेहरू-गांधी परिवार से मुक्त हो जाए। देश के सबसे पुराने और बड़े दल कांग्रेस ने जो अपना विश्वास आमजन से खोया है, उसके पीछे इसके नेतृत्व में हद से ज्यादा कमियों का आ जाना माना जा सकता है। कोई भी दल बुरा नहीं होता, लेकिन जब किसी दल में स्वार्थी लोग शामिल हो जाते हैं तो वे उस दल की छवि को धूमिल करते ही हैं, साथ ही लोकतंत्र को भी कमजोर करते हैं। सवाल है कि क्या सचमुच ही कांग्रेस के अस्तित्व पर खतरे के बादल नेहरू-गांधी परिवार के कारण छाए हैं। जरूरी नहीं कि कांग्रेस की छवि खराब होने के पीछे का कारण कांग्रेस का नेहरू-गांधी परिवार की मुट्ठी में होना ही हो। अब आम आदमी पार्टी को ही देख लें। वह तो किसी परिवार की मुट्ठी में नहीं है, फिर भी वह देश में अपनी एक मजबूत पहचान नहीं बना पाई, जबकि जब वह अस्तित्व में आई थी, तब देश में उसके एक नए विकल्प के रूप में उभरने की उम्मीद की जा रही थी। जो लोग कांग्रेस को परिवारवाद की परंपरा के चश्मे से देख रहे हैं उनसे यह सवाल है कि अगर कांग्रेस नेहरू-गांधी परिवार से मुक्त भी हो जाती है तो इस बात की क्या गारंटी है कि फिर कांग्रेस में ईमानदार लोग ही आएंगे?

राजेश कुमार चौहान, जालंधर

बाढ़ रोकने का कोई तंत्र नहीं

अभी बिहार ने चमकी बुखार का दंश झेला ही था कि अब बाढ़ ने उसकी परेशानियां और बढ़ा दी। राज्य में भारी बारिश और बाढ़ की वजह से करीब 70 लोगों की मौत हो चुकी है और वहीं इसके पड़ोसी राज्य असम में भी बाढ़ से काफी लोग प्रभावित हैं। यह स्थिति तब है जब केंद्र और राज्य का आपदा प्रबंधन तंत्र राहत और बचाव कार्य में जुटा हुआ है। नुकसान का आकलन मुख्यमंत्री नीतीश कुमार की इस बात से लगाया जा सकता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि इस बार की बाढ़ 1987 में आई बाढ़ से ज्यादा भयावह है। असम और बिहार देश के दो ऐसे सीमावर्ती राज्य हैं जिन्हें साल दर साल बाढ़ के प्रकोप का सामना करना पड़ता है। पिछले वर्ष बिहार में आई बाढ़ ने काफी ज्यादा तबाही मचाई थी और जनहानि तथा सार्वजनिक संपत्तियों का नुकसान अलग से हुआ था। इस मौसम में अक्सर नेपाल से आने वाली नदियां उत्तर बिहार में तबाही का सबब बन जाती हैं। नेपाल से छो